प्रतिक्रिया

पेगी मोहन के आलेख 'क्या अँग्रेज़ी भारत के भविष्य की भाषा है?' पर प्रतिक्रिया

लाल्टू

बराबरी और इन्साफ जैसे लफ्ज़ अभी हमारी ज़बानों में मौजूद हैं - लाल्टू

यह प्रतिक्रिया अँग्रेज़ी के विरोध में या किसी भारतीय भाषा के प्रेम में नहीं है। आज कोई बेवकूफ ही यह कह सकता है कि अँग्रेज़ी का बहिष्कार हो। हमारा मकसद भाषा पर बातचीत को सही सवालों के दायरे में लाना है।

बेमानी सवाल

क्या भारत का भविष्य अँग्रेज़ी है? क्या भारत का भविष्य अँग्रेज़ी में है? क्या भारत का भविष्य अँग्रेज़ी ही है?

पेगी मोहन के सवाल को आप जैसे भी पढ़ें, यह सवाल नया नहीं है।

यह मानीखेज़ सवाल हो सकता है, पर आज़ादी के पहले से ही बेमानी ढंग से यह सवाल चला आ रहा है - यानी यह तकरीबन सौ साल पुराना है। बेमानी इसलिए कि आज़ादी के वक्त भारत की साक्षरता 12-14% थी, जिसमें अँग्रेज़ी जाननेवालों की तादाद और भी कम थी। फिर भी यह सवाल पढ़े-लिखे तबकों में उठता रहा, या उठाया जाता रहा। एक राष्ट्र के लिए एक ज़बान होनी चाहिए, अँग्रेज़ी अन्तर्राष्ट्रीय भाषा है, अँग्रेज़ी में ही ज्ञान-विज्ञान सब कुछ है, अँग्रेज़ों ने हिन्दुस्तान पर चार सौ साल राज किया है, आदि तमाम झूठ गढ़े गए। झूठ गढ़ने वाले इसे झूठ मानते हों, ऐसा नहीं है। अक्सर हम अपनी सुविधा और ज़हनी सुकून के लिए ऐसी बातों पर यकीन करते हैं, जो झूठ होती हैं। जो देख रहे हैं, उस पर यकीन न कर, जो हम मानते हैं, वही हकीकत है, ऐसा भ्रम होना आम बात है। पेगी खुद लम्बे अरसे से मादरी ज़बान में तालीम की पक्षधर रही हैं, पर अब मानो हार मानकर अँग्रेज़ी की अहमियत पेश कर रही हैं।

संजीदा मॉडल - सरलीकृत इस्तेमाल

पेगी अपने लेख की शुरुआत में जैविक विकास पर जाने-माने विद्वान स्टीफेन जे. गूल्ड का सन्दर्भ लेती हैं। जैविक विकास कोई चार पीढ़ियों में

होने वाली चीज़ नहीं है, दसों-हज़ारों पीढ़ियाँ लग जाती हैं, तब प्रजातियों में अहम बदलाव दिखते हैं। ऐसा पाया गया है कि कभी-कभार अचानक कई प्रजातियों में एक साथ तेज़ी-से बदलाव हुए हैं, पर यह 'अचानक' भी एक लम्बी अवधि (लाखों बरसों) में होता है और इस दौरान परिवेश में बहुत बड़े बदलाव होने ज़रूरी होते हैं। जैविक विकास की इस घटना को जब जीव-विज्ञान से इतर दूसरे खित्तों में तेज़ी-से हो रहे बदलावों को समझने के लिए मॉडल की तरह इस्तेमाल किया जाए, तो इसमें कई मुश्किल खासियतें (खास तरह का क्रम, शुरुआत और अन्त के दौर की जटिलताएँ, आदि) ज़रूरी होती हैं। यहाँ इस मॉडल का निहायत सरलीकृत इस्तेमाल किया गया है। उनकी यह बात सही है कि बदलाव जब एक सीमा को पार कर जाए तो उसे उलटकर, वापस पहले के हाल पर आया नहीं जा सकता या लौट आना हमेशा मुमकिन नहीं होता है। बेशक, आज दक्षिण एशिया में हालात ऐसे हैं कि यहाँ का एलीट वर्ग तेज़ी-से भारतीय भाषाओं को दरकिनार कर अँग्रेज़ी को अपनाने की ओर बढ़ रहा है।

अपनी बात पर वज़न डालने के लिए पेगी टेलीफोन के इस्तेमाल की मिसाल लेती हैं। टेक्नोलॉजी के इंकलाब दुनिया भर में हो रहे हैं और इसका आम लोगों की ज़बान पर असर भी पड़ता है। पर हर जगह अपनी ज़बान की जगह विदेशी भाषा अपनाने जैसी बात नहीं हो रही है। पेगी इस मिसाल से यह कहना चाहती हैं कि भारतीय भाषाओं में ज्ञान की दुनिया की पहुँच दूर तक नहीं है, जैसे कि लैंडलाइन फोन होने की, या उससे भी बदतर हाल में फोन न होने की वजह से जीवन में कुछ सार्थक कर पाने की सीमाएँ हैं। सतही तौर पर यह तर्क सही है, पर भाषा के मुद्दे पर जैसी संजीदा बहस होनी चाहिए, टेलीफोन जैसी मिसाल उससे कतराती हुई चलती है। अँग्रेज़ी के पक्षधर हमेशा ही ऐसा करते रहे हैं।

बहस संज्ञान पर हो

बहस संज्ञान यानी कॉग्निशन पर होनी चाहिए। कुदरती तौर पर इन्सान की काबिलियत को पूरी तरह खिल पाने के लिए जिन प्राथमिक औज़ारों की ज़रूरत है, उनमें से भाषा अहम है। अँग्रेज़ी-संस्कृत-हिन्दी के पक्ष-विपक्ष में बहस इस मुद्दे पर न होकर राष्ट्र, साइंस-टेक्नोलॉजी, अन्तर्राष्ट्रीय प्रसंग आदि पर होती रहती है। यह हास्यास्पद है, क्योंकि जिस मुल्क में तीन-चौथाई से अधिक लोग हाई-स्कूल भी पास नहीं कर पाते, वहाँ ऐसी बातों पर बहस जिनका इस अक्सरियत से कोई ताल्लुक ही नहीं है, बेमानी है। गौरतलब यह भी है कि इम्तहानों में ज़्यादातर बच्चे अँग्रेज़ी और गणित में ही फेल होते हैं।

पेगी आलोक राय की किताब का ज़िक्र करते हुए ब्राह्मणों के वर्चस्व का ज़िक्र करती हैं, पर लगातार और समान्तर चल रहे जाति-वर्ग-लिंग के द्वन्द्वों के बारे में वे अधिक नहीं कहतीं। आलोक ने देवनागरी और कैथी लिपि के चयन में ब्राह्मणों और कायस्थों के बीच वर्चस्व की लड़ाई में ब्राह्मणों की जीत और देवनागरी के चयन की ऐतिहासिक पड़ताल की है। पूरी वर्णमाला के आधे अक्षर दोनों लिपियों में एक-जैसे हैं, और बाकी आधे अलग हैं। भाषा के बड़े सवाल में लिपि का मसला दरअसल इतना अहम कभी भी नहीं रहा, क्योंकि लिपि पढ़ने-लिखने की काबिलियत हमेशा ही, और दो-चार दशकों पहले तक, बहुत छोटे तबकों तक सीमित रही है। इसे ज़बरन पहचान का मुद्दा बनाया जाता है, भाषा और लिपि को एकसाथ देखने का कोई तुक सचमुच नहीं है। मसलन, अगर आज़ादी के वक्त यह तय हो जाता कि सभी भारतीय भाषाएँ रोमन लिपि में लिखी जाएँ, तो इससे बहुत ही कम लोगों पर कोई असर पड़ता।

यह बात सही है कि भारतीय भाषाओं में संस्कृत थोपने (न केवल पुरानी तत्सम, बल्कि हाल में गढ़ी गई कृत्रिम शब्दावली) की वजह से जो नुकसान हुआ है, उससे उबरना आसान नहीं है। पर इसका हल यह कैसे हो गया कि विकल्प अँग्रेज़ी है! विकल्प तो लोकभाषाओं से शब्दावली तैयार करने का होना चाहिए – खास तौर पर अगर संज्ञान हमारा मकसद है।

पेगी लैंडलाइन फोन का मुहावरा इस्तेमाल करते हुए 'शुद्ध' हिन्दी की बकवास को कटघरे में खड़ा करती हैं, पर अँग्रेज़ी को जाने कैसे मोबाइल फोन के साथ जोड़ देती हैं। टेक्नोलॉजी के कुछ पहलू ऐसे होते हैं, जिनसे हम बच नहीं सकते, जैसे पिछली आधी सदी में कम्प्यूटर और सूचना की टेक्नोलॉजी रही है। इन्हें पहचानकर जल्दी-से अपना लेना ही बेहतर होता है। ऐसा ही अँग्रेज़ी के बारे में सच हो तो फिर हमें अँग्रेज़ी अपना लेनी चाहिए और बाकी ज़बानों

को अलविदा कह देना चाहिए। जिन मुल्कों में यूरोपी ज़बानें ही चलती हैं, वहाँ अक्सर अलग-अलग वजहों से निचले तबकों के कुछ लोग ऊपर आ पहुँचते हैं। ऐसा उन दूसरे मुल्कों में भी होता रहा है जहाँ यूरोपी ज़बानें नहीं चलती हैं। सियासी और माली हालात इसके अनुकूल हों तो कुछ भी मुमकिन है।

यह समझ गलत है कि सम्पन्न लोगों की भाषा अपना लेने पर ही निचले तबकों के लोग सम्पन्न हो पाते हैं। अँग्रेज़ी सीखने की वजह से अमेरिका के काले लोग गोरों की गुलामी से आज़ाद नहीं हुए, या दक्षिण अमेरिका में मूल निवासी इस्पानी या पुर्तगाली सीखकर ऊपरी तबकों के बराबर नहीं हो गए। काले लोगों की कहानी लम्बे जद्दोजहद की कहानी है। कानूनी तौर पर गुलामी से छूटने के बाद भी वे गोरों के बराबर न हो पाए। उनका संघर्ष डुबोएस जैसे बुद्धिजीवी और मार्कस गार्वे, मैलकम एक्स जैसे जुझारू अगुवाओं और उनके साथ चले लाखों लोगों की कुर्बानियों की कहानी है। आज भी अँग्रेज़ी में लिखते हुए काले लेखक अपनी अफ्रीकी मूल की पहचान को ढूँढ़ते हैं और उसी पहचान में गर्जना करते हैं। हिन्दुस्तान में कई चालाक अँग्रेज़ीपरस्त इन मिसालों को सामने रखकर अँग्रेज़ी को डीकॉलोनाइज़ करने की बात करते हैं। पेगी ने लिखा है कि नॉन-एलीट वर्ग अँग्रेज़ी पर दावा ठोक रहे हैं, यह कहन एलीट लोगों की चालाकी है। सच यह है कि यह पूरी प्रक्रिया एक नया उपनिवेशीकरण है, भले ही ऐसा लगता हो कि गुलाम हो रहा इन्सान खुद इस गुलामी की ज़ंजीरें चूम रहा है।

अँग्रेज़ी को ताकत किससे मिली?

बीसवीं सदी की शुरुआत तक अँग्रेज़ी का कोई असर हिन्दुस्तान पर नहीं था। दक्षिण एशिया महज़ 89 सालों तक (400 नहीं) उपनिवेश रहा है। सन् 1857 में केवल 40,000 अँग्रेज़ इस उपमहाद्वीप में थे (पेशावर से श्रीलंका और मुम्बई से म्यानमार तक)। इससे ज़्यादा तादाद में यहाँ अफ्रीकी लोग (जैसे स्वाहिली भाषा बोलने वाले) मौजूद रहे होंगे। कुछ जगहों पर कम्पनी राज और मिशनरियों की वजह से यूरोपी तालीम जगह बना रही थी, पर वह नाममात्र थी। बीसवीं सदी में भी बिलकुल ऊपरी खित्तों को छोड़कर सारा प्रशासन हिन्दुस्तानी ज़बानों में ही होता था। सदी की शुरुआत तक पूरे उपमहाद्वीप में अँग्रेज़ों की तादाद एक लाख पार कर गई थी। दूसरी जंगे-अज़ीम के दौरान आए अँग्रेज़ सिपाहियों को रोमन लिपि में हिन्दुस्तानी सिखाई जाती थी (There was a brown crow – दरवाज़ा बन्द करो; There was a cold day - दरवाज़ा खोल दे)। तो अँग्रेज़ी को यह ताकत

कैसे मिली, जो आज दिखती है? अँग्रेज़ी की यह ताकत काले साहबों यानी यहाँ के एलीट-वर्गों की वजह से है। दरअसल, जिसे आम तौर पर colonial period या उपनिवेशी दौर कहा जाता है, जिसमें कम्पनी राज को शामिल कर लिया जाता है, उसका ज़्यादातर अँग्रेज़ों के पिट्ठुओं और उनके किए गए ज़ुल्मों का इतिहास है - सामन्ती रजवाड़े और ज़मींदार, और दलक जातियों ('सवर्ण' जैसे सुन्दर शब्द से जाने जाते) के मुख्यत: मर्दों के वर्चस्व का इतिहास है। इसीलिए कुछ दलित बुद्धिजीवियों ने इस इतिहास के हर पहलू को पलटने की (भाषा समेत) कोशिश की है। पर ब्राह्मणी वर्चस्व वाली तत्सम-लदी हिन्दी का विकल्प अँग्रेज़ी ज़बान नहीं हो सकती है। सही विकल्प हर किसी की अपनी ज़बान है। इस प्रसंग में कई पुराने सवाल अब बेमानी हो गए हैं, जैसे कि एक देश में आखिर कितनी भाषाओं में काम किया जा सकता है। आज टेक्नोलॉजी की मदद से सैकड़ों ज़बानों में काम कर पाना आसान है, बशर्ते ऐसा करने की चाहत हो और इसके लिए उचित पैसा लगाया जाए। ऐसे सभी सवालों के आसान जवाब हैं, कोई मानना चाहे तो।

अपनी ज़बान में महारत बगैर...

बहस इस बात पर होनी चाहिए कि लोकभाषाओं की शब्दावली वापस

मुख्यधारा की भाषाओं में कैसे लाई जाए। संज्ञान के स्तर पर किस भाषा की अहमियत है, इस पर बात होनी चाहिए।

पेगी जापान, चीन जैसे दीगर मुल्कों की मिसाल लेकर कहती हैं कि वहाँ इलाकाई ज़बान में आधुनिक तालीम, ज्ञान-विज्ञान आदि मुमकिन हुए हैं। और हिन्दुस्तान में हुक्कामों की ज़बान हमेशा आम लोगों से दूर की रही है। उनकी यह बात सही है कि आने वाले वक्तों में जिन भाषाओं में साइंस और टेक्नोलॉजी का विमर्श नहीं हो पाएगा, वे पिछड़ती जाएँगी। बेशक हिन्दुस्तान में मॉडर्न साइंस पूरी तरह से एक एलीट कारोबार है, और यह अँग्रेज़ी में ही हो रहा है। इसलिए अँग्रेज़ी का बहिष्कार बेवकूफी है। पर सवाल यह है कि क्या अपनी ज़बान में काबिलियत के बगैर अच्छी अँग्रेज़ी सीख पाना मुमकिन है? कामचलाऊ अँग्रेज़ी से हम अँग्रेज़ी में विज्ञान की शब्दावली तो सीख सकते हैं, पर विज्ञान नहीं सीख सकते। पिछली सदी में दुनिया भर में भाषाविद इन बातों पर बहस कर चुके हैं और इस पर अच्छी समझ बन चुकी है।

सापिर, ह्वोर्फ से वाइगोत्सकी तक और बाद में चेतना के विज्ञान और आर्टीफिशियल इंटेलिजेंस पर शोध करने वाले कई लोगों ने इस पर बहुत कुछ कहा है। सापिर-ह्वोर्फ ने भाषाई निश्चितता का सिद्धान्त दिया था, कि हमारे वजूद में भाषा के अलावा और कुछ अर्थ ही नहीं रखता, जिसे हम दुनिया मानते हैं, उसे भाषा ही हमारे लिए बनाती है - यह अतिरेक था; पर उसके बाद भी तमाम भाषाविदों ने बार-बार चेताया है कि भाषा ही जैविक विकास का सबसे महत्वपूर्ण पहलू है। दुनिया और जीवन के प्रति हमारा नज़रिया, इनके साथ भाषा का गहरा सम्बन्ध है। हम अपनी बात को औरों तक पहुँचाने और सही-गलत के बारे में अपनी समझ साझी करने के लिए भाषा का इस्तेमाल करते हैं।

पिछली सदी के अन्त में नामी मनोवैज्ञानिक जाक्स लाकान की सबसे ज़्यादा पढ़ी गई उक्ति है - 'द अन्कांशस इज़ स्ट्रक्चर्ड लाइक अ लैंग्वेज (अवचेतन की संरचना भाषा की तरह होती है)'। अगर अवचेतन और भाषा के बीच ऐसा गहरा सम्बन्ध है तो निश्चित ही मादरी ज़बान का महत्व हमारी आम समझ से कहीं ज़्यादा है। हमारे देशी विद्वान इनको पढ़ते-पढ़ाते हैं और अँग्रेज़ी में हमें बतलाते हैं कि थोपी गई भाषा मनुष्य के सामान्य विकास में बाधा पहुँचाती है और कई तरह की विकृतियाँ पैदा करती है। पिछले सौ से भी ज़्यादा सालों में इस पर बहुत कुछ लिखा गया है, इसके बावजूद वे अँग्रेज़ी को चुनते हैं। यह चयन एक तरह का चरमपन्थी रवैया है। यह जानते हुए कि देश की आबादी के बहुत बड़े

हिस्से को अँग्रेज़ी नहीं आती, यह तय करना कि हम सारा बौद्धिक काम अँग्रेज़ी में करेंगे, ज़ाहिर तौर पर एक ज़िद्दी, अड़ियल और फैनाटिक (चरमपन्थी) रवैया है। यह और बात है कि अपने आम पाखण्डी और सामन्ती रवैयों की तरह ही वे अँग्रेज़ी थोपने के खिलाफ बोलने वालों को चरमपन्थी कहते हैं।

पेगी हिन्दी-माध्यम स्कूलों में अँग्रेज़ी की पढ़ाई की सही आलोचना पेश करती हैं। पर वे यहीं रुक जाती हैं कि भाषा सीखने का यह सही तरीका नहीं है। बेशक, महँगे अँग्रेज़ी-माध्यम स्कूलों में अँग्रेज़ी की पढ़ाई बेहतर है, पर छोटे शहरों और यहाँ तक कि गाँवों में जो बड़ी तादाद में अँग्रेज़ी-माध्यम स्कूल उग आए हैं, वहाँ अँग्रेज़ी की पढ़ाई किस कदर घटिया है, इस पर वे कुछ नहीं कहतीं। यह बात इसलिए अहम है कि अँग्रेज़ी आज भी विदेशी ज़बान है और इसे पढ़ाने लायक अध्यापक बड़ी तादाद में मिलते नहीं हैं। चूँकि पेगी अलग-अलग विधाओं से मुहावरों का इस्तेमाल करती हैं, उन्हीं की शैली में विज्ञान के फलसफे पर थॉमस कुन के इस कथन का इस्तेमाल कर सकते हैं कि नतीजे तक पहुँचने के लिए चुने गए आँकड़े या तथ्य 'theory-laden' यानी पहले से मान लिए गए सिद्धान्त से लदे होते हैं। उन्होंने अपनी बात को सही ठहराने के लिए दिल्ली के हिन्दी-माध्यम स्कूलों में अँग्रेज़ी की पढ़ाई को चुना। तर्क के सिलसिले में यह चयन बिलकुल सही लगता है। पर जैसा ज्ञान-मीमांसा में कहा जाता है, ज्ञान पाने का कोई भी साधन (भाषा, एहसास, तर्क, जज़्बात) बौद्धिक भ्रम की ओर ले जा सकता है और इस बात के मद्देनज़र हमें पूरी सावधानी बरतनी चाहिए।

निरन्तरता का तर्क कितना सही?

अँग्रेज़ी के बढ़ते वर्चस्व से हालात कहाँ पहुँचेंगे, इसके लिए हम उन तमाम लोगों को देख सकते हैं, जिन्हें ज़बरन अपनी ज़बान से बिछुड़ना पड़ा है। अफ्रीका से गुलाम और बँधुआ बनाकर वेस्ट इंडीज़ में बसाए गए लोगों ने किस तरह अँग्रेज़ी को अपनाया, इस पर पेगी का मौलिक काम है और वह अपने इस तजुर्बे को भारतीय भाषाओं के अँग्रेज़ीकरण और भविष्य में कभी अँग्रेज़ी के भारतीय भाषा बन जाने को समझने के लिए बखूबी इस्तेमाल करती हैं। पर भाषा में बदलाव में continuum यानी निरन्तरता का उनका तर्क अँग्रेज़ीकरण से कहीं ज़्यादा तत्समीकरण के लिए इस्तेमाल हो सकता है। हिन्दी इलाकों में यह साफ देखा जा सकता है। किसानी को कृषि, मानुष या माणुख को मनुष्य जैसे भाषाई निरन्तरता के अनगिनत उदाहरण हैं - यहाँ तक कि अपने वक्तों में प्रचलित प्राकृत और दीगर

भाषाओं से इकट्ठा कर पाणिनी और उनके शिष्यों ने जो संस्कृत शब्द गढ़े, उन्हें लोकभाषाओं में प्रचलित शब्दों का मूल कह दिया जाता है। और ब्राह्मणवादी वर्चस्व की वजह से इसे कोई चुनौती नहीं देता। कोलकाता और मुम्बई की हिन्दी के साथ दिल्ली या लखनऊ की हिन्दी में निरन्तरता देखें या हैदराबाद की दकनी ज़बान के साथ लखनऊ की हिन्दुस्तानी को साथ रखकर देखें।

वेस्ट इंडीज़ की मिसाल हमारे सन्दर्भ में कितनी सही हो सकती है? वहाँ अफ्रीका और हिन्दुस्तान से लोगों को ज़बरन ले जाकर बसाया गया। वे अपने परिवेश से कट गए। भाषा चेतना का अहम हिस्सा है। और चेतना के विज्ञान में हर कोई यह मानता है कि चेतना के हर पहलू में परिवेश की अहम भूमिका है। इसलिए गुलाम और बँधुआ लोगों की क्रीओल ज़बान से अँग्रेज़ी की निरन्तरता की धारणा को सीधे भारतीय भाषाओं और अँग्रेज़ी की निरन्तरता में स्थापित नहीं किया जा सकता है।

भारतीय भाषाओं की समस्याएँ कम नहीं हैं। मसलन, मानकीकरण के नाम पर खड़ी बोली हिन्दी में जानबूझकर आम लोगों में प्रचलित तकनीकी शब्दावली को भुलाकर गढ़े हुए बनावटी तत्सम शब्द डाले गए और इस तरह 'हिन्दी' धीरे-धीरे अपने ही मुल्क में पराई ज़बान हो चली। तो क्या इसका हल अँग्रेज़ी में है? ज़ाहिर है कि ऐसा हल सुझाने वाले वही होंगे जिन्हें अँग्रेज़ी से फायदा है। मुमकिन है कि फायदा लेने वाले ये लोग छल-बल-कौशल से हालात यहाँ तक खींच

लाए हैं कि आगे उन्हीं की चलेगी और अँग्रेज़ी ही भारत का भविष्य हो। क्या भारतीय ज़बानों में पढ़ने-लिखने वाले इस संकट को समझ रहे हैं? अव्वल तो भारतीय भाषाओं के प्रतिष्ठित लेखक शासक वर्गों के साथ हैं। उन्हें अपने फौरी हितों की फिक्र है। इसलिए पेगी (और उन्हें सामने रख पीछे खड़े एलीट वर्ग के लोग) की बात सही है या नहीं, इससे ज़्यादा यह सोचने की ज़रूरत है कि कितनी सदियों तक यह लड़ाई चलेगी कि दक्षिण एशिया का हर बच्चा अपनी कुदरती काबिलियत को पूरी तरह खिलने दे पाए। ये आसान सवाल नहीं हैं। लड़ाई तो चलेगी।

पेगी ने एक हिन्दुस्तानी के अँग्रेज़ी सीखने के साथ उसकी identity change यानी पहचान में तब्दीली की बात की है। उनकी नज़र उसकी वर्ग-पहचान में बदलाव पर है। वक्त के साथ मध्य-वर्ग में शामिल लोगों की तादाद बढ़ी है और आगे और बढ़ने के आसार हैं, पर इसका मतलब यह नहीं कि यह अँग्रेज़ी सीख जाने की वजह से है। माली हालात बदलने की सियासी वजहें होती हैं।

भाषा, पहचान का संकट और हिंसा की सियासत

अँग्रेज़ी सीखना एक बात है और अँग्रेज़ी को अपनाना कुछ और बात है। आज सत्ता और सुविधाओं से विपन्न हर कोई अँग्रेज़ी अपनाना चाहता है; इससे जो पहचान के बदलाव का संकट सामने आ रहा है, वह भयंकर है। भारत में उभरते फासीवाद और इस संकट का घना रिश्ता है। या यूँ कहें कि उभरते फासीवाद की एक वजह यह पहचान का संकट है। एक भाषा से करीब की किसी भाषा तक जाना परम्परा, जीवन-दृष्टि, संस्कृति, इतिहास में करीब के दायरे में सफर करना है।

जब अपनी ज़बान से हटकर किसी दूर की ज़बान तक का सफर करना हो तो वह परम्परा, जीवन-दृष्टि, संस्कृति, इतिहास का लम्बा सफर होता है, यानी ज़हन में पहले से कहीं ज़्यादा दूरी की 'छवियाँ' बनानी पड़ती हैं। पेगी का तर्क यह है कि निरन्तरता की वजह से यह सफर इतना लम्बा नहीं रह जाता। यह बहस का मुद्दा है। चेतना के विज्ञान की समझ आज भी इतनी आगे नहीं पहुँची कि इस पर कोई साफ नज़रिया रखा जा सके। भाषा-विज्ञानियों से लेकर आर्टीफीशियल इंटेलिजेंस के शोधकर्ताओं तक ज़्यादातर लोग यह मानते हैं कि भाषा का रूहानी वजूद के साथ गहरा रिश्ता होता है। इसीलिए बहस महज़ माली हालात और भौतिक वजूद पर ही नहीं, बल्कि संज्ञान के स्तर पर होनी चाहिए।

सचेत बौद्धिकों को अपने सवालों के दायरे को सतही स्तर से आगे ले जाकर सर्वांगीण ढंग से सोचना चाहिए। यूरोप में आधुनिकता की

शुरुआत पुनर्जागरण से हुई। उस दौरान धर्म, फलसफा और भाषा, हर खित्ते पर, बुनियाद पर चोट पड़ी। आधुनिकता महज़ मॉडर्न साइंस और टेक्नोलॉजी का आना नहीं है। हमारे यहाँ सदियों तक पुनर्जागरण जैसा सामाजिक आन्दोलन चलता रहा है, जो दक्षिण में बासवन्ना के वचन, उत्तर में फरीद की वाणी से लेकर ज्ञानेश्वर, कबीर, तुकाराम, रविदास, नानक और लालन फकीर तक का लम्बा दायरा है। अँग्रेज़ी और संस्कृत के हमलों से हमारे इतिहास के इस बड़े हिस्से को भुलाने की कोशिश है। क्या हमें यह सवाल पूछना नहीं चाहिए कि क्या भविष्य में हम इन भक्तों, फकीरों को अँग्रेज़ी में पढ़ेंगे? कोक स्टूडियो और जश्ने-रेखता जैसे आयोजनों में संगीत सुनते अँग्रेज़ीवालों को यह बात शायद ही समझ आए कि खुसरो और सूफी, निरगुन और सगुन, यह सब सुनकर झूमना एक बात है और गीतों के बोल को जीना कुछ और ही है। वैसे अँग्रेज़ी में पढ़ा जाए तो आपत्ति नहीं होनी चाहिए, पर क्या यह वाकई मुमकिन है कि हम इन्हें अँग्रेज़ी में पढ़-समझ सकते हैं? हिन्दुस्तानी ज़बानों को खोकर सूफी संगीत को सुनना उसके चेतन पहलुओं के बगैर सुनना है, जैसे कोरोना का रोगी कुछ खाते-पीते हुए स्वाद और गन्ध के एहसास खो देता है। क्या जीवन्त सांस्कृतिक विरासत को दरकिनार कर हम दक्षिण एशिया के नॉन-एलीट वर्गों के जीवन पर बात कर सकते हैं? पिछली सदी को ही लिया जाए तो बांग्ला में रवीन्द्र संगीत की मिसाल ली जा सकती है। अब तक कई हिन्दुस्तानी ज़बानों में इन गीतों के अनुवाद हो चुके हैं। नामी गायकों ने इन्हें अलग ज़बानों में गाया है। पर बांग्ला की कुछ खासियत है कि जहाँ बांग्लाभाषी इन गीतों को सुनकर रूहानी सुकून से सराबोर होते हैं, तरजुमे के बाद दूसरी ज़बानों में ये वैसा असर नहीं छोड़ते। अगर एक-जैसी विरासत वाली ज़बानों में ही महज़ एक सदी पुरानी सामग्री का प्रभावी अनुवाद नहीं हो सकता है तो अँग्रेज़ी की क्या बिसात!

परिवेश (संस्कृति, इतिहास, रस्मो-रिवाज़) के साथ वजूद का कैसा पेचीदा रिश्ता है, इसे समझे बिना हम कैसे महज़ माली या दूसरी वजहों से हो रहे भाषाई बदलाव के पक्ष-विपक्ष में खड़े हो सकते हैं? जिन भी वजहों से भाषाई बदलाव हो रहे हों, हमारा विवेक हमें किन चिन्ताओं की ओर ले जाता है? पेगी के पर्चे पर न सही, हम खुद से ये सवाल ज़रूर कर सकते हैं। महज़ माली हालात में बदलाव की वजह से ज़बरन हो रही बातों को ही कुदरती बदलाव मान लेना एक तरह की पक्षधरता है, जिस पर सवाल उठना चाहिए। यहाँ मुक्तिबोध की प्रसिद्ध पंक्ति 'पार्टनर, तुम्हारी पॉलिटिक्स क्या है?' याद करनी चाहिए या पीट सीगर और दूसरे लोक-गायकों द्वारा गाए फ्लोरेंस रीस के लोकप्रिय गीत 'Which side are you on?' को याद करना चाहिए। यह महज़ रूमानी खयाल नहीं है। मानव-इतिहास में ऐसे दौर आते रहते हैं, जब यह सवाल पूछना ज़रूरी हो जाता है। एलीट वर्ग ने अँग्रेज़ी को सत्ता और ताकत की ज़बान बना रखा है, ब्राह्मणवादियों ने बनावटी संस्कृत का झण्डा उठाया हुआ है। आम इन्सान मजबूरी में पिसता बच्चों को अँग्रेज़ी की ओर धकेल रहा है। करोड़ों में से कुछ सौ लोग इस धक्कम-पेल में वाकई आगे बढ़ जाएँगे, बाकी लोगों की ज़िन्दगी उसी गड्ढे में फँसी रहेगी, जहाँ वे पहले से हैं। ये 'नाकामयाब' लोग, जिन्हें आगे बढ़ गए कुछ लोग 'losers' कहकर बचना चाहेंगे, क्या हम उन्हें इन्सान मानना छोड़ दें? यह कैसी पहचान का संकट है - महज़ माली पहचान या कहीं ज़्यादा भयानक और भयंकर? यह सोचना लाज़मी है।

पेगी अपनी बात पर वज़न डालने के लिए अब तक चली आ रही रिवायत की बात कहती हैं - माँ-बाप ने बच्चों के भले की खातिर कुर्बानियाँ दी हैं और ऐसा ही आज हो रहा है और आगे भी होता रहेगा। दुनिया में बहुत कुछ सही-गलत हो रहा है। जो हो रहा है, उसे ही सही मान लिया तो कैसा इल्म और कैसा आलिम? सिर्फ इसलिए कि शहरों में लोगों (और गाँवों में भी एक अच्छी तादाद में) को लगता है कि अँग्रेज़ी उनकी तरक्की की चाबी है, हम मान लें कि उनकी यह समझ सही है और ऐसा ही होना चाहिए? लोगों की ही सुनी जाए तो सौ साल पहले जर्मनी में हिटलर का सत्ता में आना और आज हमारे मुल्क में बढ़ती साम्प्रदायिक नफरत को ठीक मान लेना पड़ेगा। इसका मतलब यह कतई नहीं कि लोगों में दिखती प्रवृत्ति के उलट हम कुछ भी कहें तो वही ठीक होगा, पर हमें संज्ञान के स्तर पर सही सवाल उठाने होंगे। अगर मादरी ज़बान में पढ़ना-लिखना और काम-काज हरेक के हित में है, तो हमें उसके लिए संघर्ष करना होगा और सरकारों को

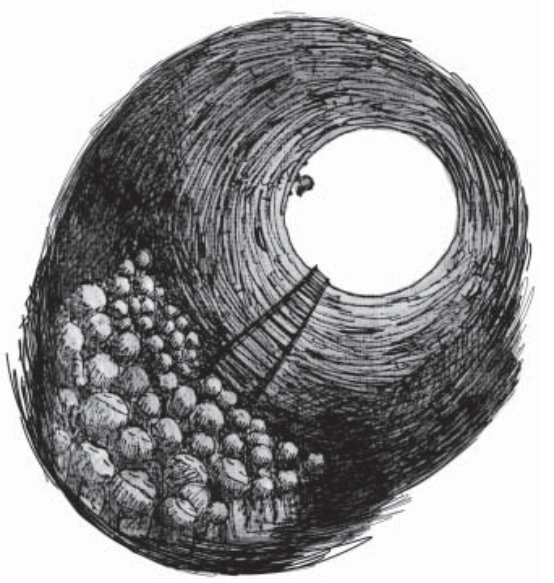

मजबूर करना होगा कि हम इसके लिए संसाधनों का निवेश करें। कोई कह सकता है कि समाज-विज्ञान में अध्ययन का काम सही-गलत की पहचान नहीं, बल्कि जो है उसे सामने लाना है। क्या सचमुच निष्पक्ष शोध नामक कोई चीज़ होती है? अब तो यह भी माना जाता है कि निष्पक्षता का सबसे ज़्यादा शोर जहाँ है, उस विज्ञान नामक हरकत में भी पूर्वाग्रहों से बच पाना मुश्किल है। कम-से-कम यह तो पड़ताल करनी ही पड़ेगी कि भाषा के मुद्दे पर हम जो कहते हैं, उसका फायदा किसे है।

पेगी ने मध्य-वर्ग के परिवारों के बच्चों में अँग्रेज़ी के बढ़ते इस्तेमाल का सही आकलन किया है। पर उनकी टिप्पणी यहीं तक सीमित है कि इससे उनकी पहचान में बदलाव आ रहा है। आखिर में वे इसे 'बहुत पाया और कुछ खोया' कहती हैं। यह बात अमेरिका के काले लोगों और दक्षिण अमेरिका के मूल निवासियों जैसे समुदायों में से उन लोगों से पूछी जाए, जिन्होंने अपने लोगों के हितों को सामने रखकर आजीवन संघर्ष किया है, तो वे इसे खोया - सब कुछ खोया, कहेंगे। डुबोएस 95 साल की उम्र में अफ्रीका के मुल्क घाना में मरते हैं, जबकि अमेरिका में उनका जीवन कहीं अधिक सुकून भरा हो सकता था। माली तरक्की को ही ज़िन्दगी का मकसद मानने वाले यह बात नहीं समझ पाएँगे।

लब्बोलुबाब यह कि पेगी ने ज़बान को सामाजिक-आर्थिक मुद्दा माना है, पर वे इससे आगे चेतना और संज्ञान के साथ भाषा को नहीं जोड़ पातीं। यह उनके विश्लेषण की बड़ी सीमा है। उनकी यह समझ भी बहस माँगती है कि अँग्रेज़ी जान लेने की वजह से पिछड़े तबके के लोगों के साथ भेदभाव करना मुश्किल हो जाएगा। ऐसा होता तो बगैर कोई जुर्म साबित हुए सालों से कैद काट रहे

उमर खालिद, सुधा भारद्वाज, गौतम नवलखा जैसे अँग्रेज़ी में पारंगत ऊपरी तबके के लोगों के समर्थन में जन-सैलाब दिखाई देता, पिछड़ों की तो क्या कहें। सामाजिक बदलाव अँग्रेज़ीदाँ लोगों की करुणा से नहीं, फरीद-बासक्ना-ज्ञानेश्वर-कबीर-रविदास -तुकाराम-नानक-लालन के संघर्षों से होते हैं।

यह सही है कि अपने मौजूदा रूप में हिन्दी ज़्यादा देर तक नहीं रहेगी। पर तमिल, बांग्ला, मलयालम, पंजाबी, तेलंगाना की तेलुगु आदि ज़बानों के लिए यह बात कहना मुश्किल है। वहीं, पेगी की इस बात के बारे में संजीदगी से सोचना ज़रूरी है कि अगर एलीट वर्ग व्यावहारिक खित्तों में अँग्रेज़ी का वर्चस्व बढ़ाते रहने में कामयाब होता है तो भारतीय भाषाओं की हैसियत कितनी रह जाएगी।

इसमें कोई शक नहीं कि ज़िन्दा ज़बानें बदलती रहती हैं। कुदरती तौर पर, नई टेक्नोलॉजी की वजह से अँग्रेज़ी और दीगर कई ज़बानों के अल्फाज़ हमारी भाषाओं में आए हैं - आने ही चाहिए। अँग्रेज़ी में भी हिन्दुस्तानी समेत दुनिया की दीगर ज़बानों से अल्फाज़ शामिल हुए हैं। पर महज़ सम्पन्न लोगों के निहित स्वार्थों के लिए ज़बरन पूरी-की-पूरी ज़बान बदली जाए तो क्या हमें आँख मूँदकर इसे मान लेना चाहिए?

तो अँग्रेज़ी नहीं तो भारत का भाषाई भविष्य क्या है? क्या हिन्दी भारत का भविष्य है? नहीं, ऐसी तवक्को भी नहीं होनी चाहिए। यह सचमुच अजीब है कि दुनिया के इतिहास की तमाम उथलपुथल को देखते हुए भी लोग भविष्यवाणियाँ करने की गलती करते हैं। दो सौ साल पहले रूस में फ्रांसीसी ज़बान में महारत बुद्धिजीवी होने की पहचान थी। आज वहाँ इक्के-दुक्के ही फ्रांसीसी भाषा बोलते होंगे। भारत की आज़ादी के नब्बे साल पहले भी कोई कल्पना नहीं कर सकता था कि दक्षिण एशिया में एक विशाल मुल्क हो सकता है। ऐन आज़ादी के वक्त भी रजवाड़े अलग-अलग मुल्क बनाना चाहते थे। आज़ादी के कुछ वक्त पहले तक पाकिस्तान महज़ एक सियासी दाँव भर था। पाकिस्तान बनने के पच्चीस सालों में ही बांग्लादेश अलग हो गया। इसलिए निश्चित भविष्यवाणियाँ न कर हमें यह सोचना चाहिए कि भविष्य में कैसी सम्भावनाएँ हैं और उनमें से किस सम्भावना के पक्ष में हम खड़े हों। किसी एक सम्भावना को ही निश्चित कह देना एक फतवा है। ऐसे फतवों से बचना चाहिए और इनके खिलाफ संघर्ष भी करना चाहिए।

सम्भावनाएँ और हम किस ओर खड़े?

तो कैसी सम्भावनाएँ दिखती हैं? बेशक एलीट वर्गों और पूँजीवादी हितों के अनुकूल अँग्रेज़ी एक भविष्य

है। दूसरी सम्भावनाएँ इन्सान के साथ खड़े होने की हैं। यह मुमकिन है कि हम अपनी बहुभाषी राष्ट्रीयता को पहचान लें और संकीर्ण सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के बरक्स अपनी बहुलता और विविधता का जश्न मनाना सही मानें। टेक्नोलॉजी की मदद से सैकड़ों भाषाओं में पढ़ने-लिखने की सामग्री तैयार करें। हर बच्चे को मौका दें कि वह अपनी ज़बान में पढ़-लिख कर भरा-पूरा इन्सान बने। जिन्हें अँग्रेज़ी सीखनी है, जो कुछ लोग साइंस और टेक्नोलॉजी या अन्य विषयों में काम करना चाहते हैं, जो व्यापार या अन्य कारणों से दुनिया के चक्कर लगाना चाहते हैं, वे चाहें तो अँग्रेज़ी सीखें या टेक्नोलॉजी की मदद से अँग्रेज़ी से राफ्ता बना लें (चीन-जापान जैसे मुल्कों में भाषाओं में तुरत-फुरत अनुवाद करने की मोबाइल फोन जैसी मशीनें दशकों पहले आ चुकी हैं)। हर किसी को साइंस और टेक्नोलॉजी या बहुराष्ट्रीय व्यापार नहीं करना है, जिसे करना है अपनी पसन्द से करना है। हर तरह के श्रम की कीमत है, और इसे हमें पहचानना है। यह महज़ तसव्वुर और सपना नहीं है, और हो भी तो क्या? अपने विवेक से पूछें कि आप किस ओर खड़े हैं। पेगी के लेख के आखिरी वाक्य - 'You lose some, but you gain much more' - पर बार-बार सवाल उठाएँ - वाकई? अँग्रेज़ी के ज़रिए मध्य-वर्ग में शामिल होना ज़िन्दगी में बहुत कुछ पा लेना है? जो खोया, वह क्या सचमुच 'some' यानी थोड़ा-सा कुछ ही है? क्या माली वजूद ही जीने का मकसद है? पूँजीवाद या ब्राह्मणवादी नफरत की सियासत की चक्की में घुन बनकर पिसना ही माली तरक्की का एकमात्र रास्ता नहीं है, बराबरी और इन्साफ जैसे लफ्ज़ अभी हमारी ज़बानों में मौजूद हैं - अँग्रेज़ी में भी। सदियों बाद इतिहास में हमें कैसे पढ़ा जाएगा - माटी के साथ खड़े या ज़ुल्म के साथ खड़े बौद्धिक – यह हमें आज तय करना है।

हरजिन्दर सिंह 'लाल्टू': सेंटर फॉर कम्प्यूटेशनल नेचुरल साइंस एंड बायोइन्फॉर्मेटिक्स, आई.आई.आई.टी., हैदराबाद में प्रोफेसर। प्रिंसटन यूनिवर्सिटी, न्यू यॉर्क, यूएसए से पीएच.डी.। सन् 1987-88 में *एकलव्य* के साथ यूजीसी द्वारा स्पेशल टीचर फैलोशिप पर हरदा में रहे। आप हिन्दी में कविता-कहानियाँ भी लिखते हैं।

सभी चित्र: बंसी: जूनागढ़ की रहने वाली बंसी ने गांधीनगर से दाँतों की शल्य चिकित्सा की पढ़ाई करने के बाद TISS, मुम्बई से प्रारम्भिक शिक्षा में एम.ए. की पढ़ाई की। वह एक चित्रकार बनना चाहती हैं और संवेदनशील और अर्थपूर्ण बाल साहित्य की रचना करना चाहती हैं - खासकर गुजरात की गैर-अधिसूचित और 'बोली' भाषाओं में। वर्तमान में *एकलव्य*, भोपाल के बाल साहित्य समूह के साथ जुड़ी हैं।